३

कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

□ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतवर्ष दर्शनों की जन्मस्थली है, क्रीड़ा भूमि है। यहाँ की पुण्य भूमि पर आदिकाल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की विचारधारा बहती चली आ रही है। न्याय, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनों ने यहाँ जन्म ग्रहण किया, वे खूब फूले और फले। उनकी विचारधाराएँ हिमालय की चोटी से भी अधिक ऊँची, समुद्र से भी अधिक गहरी और आकाश से भी अधिक विस्तृत हैं।

भारतीय दर्शन जीवन-दर्शन है। केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन में विहरण करने की अपेक्षा यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने जीवन के गम्भीर व गहन प्रश्नों पर चिन्तन, मनन, विमर्श करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा, परमात्मा, लोक, कर्म आदि तत्त्वों पर गहराई से चिन्तन, मनन व विवेचन किया गया है। उन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे तत्त्व का जो विश्लेषण किया है वह भारतीय सभ्यता व धर्म का मेरुदण्ड है। इस विराट् विश्व में भारत के मुख को उज्ज्वल-समुज्ज्वल रखने में तथा मस्तिष्क को उन्नत रखने में ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पदा सर्वथा व सर्वदा कारण रही है। मानसिक पराधीनता के पंक में निमग्न आधुनिक भारतीय पाश्चात्य सभ्यता के चाकचिक्य के समक्ष इस अनुपम विचार-राशि की भले ही अवहेलना करें किन्तु उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारत अति प्राचीन काल से गौरवशाली देश रहा है तो अपने दार्शनिक चिन्तन के कारण ही। वस्तुतः तत्त्वज्ञान से ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की प्रतिष्ठा है।

दार्शनिकवादों की दुनिया में कर्मवाद का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कर्मवाद के मर्म को समझे बिना भारतीय दर्शन विशेषतः आत्मवाद का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता।

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार "कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता।"

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्याविशारद कीथ ने सन् १६०६ की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख लिखा था। उसमें वे लिखते हैं—"भारतियों के कर्म बन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता।"

जैन दर्शन का मन्तव्य :

कर्मवाद के समर्थक दार्शनिक चिन्तकों ने काल आदि मान्यताओं का सुन्दर समन्वय करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जैसे किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नहीं अपितु अनेक कारणों पर अवलंबित है वैसे ही कर्म के साथ-साथ काल आदि भी विश्व-वैचित्र्य के कारणों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। विश्व-वैचित्र्य का मुख्य कारण कर्म है और काल आदि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से जन-जन के मन में आत्मविश्वास व आत्मबल पैदा होता है और साथ ही पुरुषार्थ का पोषण होता है। सुख-दुःख का प्रधान कारण अन्यत्र न ढूंढ़कर अपने आप में ढूंढ़ना बुद्धिमत्ता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि "काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणों में से किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणों की उपेक्षा की जाय, यह उचित नहीं है, उचित तो यही है कि कार्य निष्पत्ति में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किया जाय।" इसी बात का समर्थन आचार्य हरिभद्र ने भी किया है।

दैव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। आचार्य समन्त भद्र ने लिखा है—बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं पर दैव प्रधान होता है तो कहीं पर पुरुषार्थ। दैव और पुरुषार्थ के सही समन्वय से ही अर्थ सिद्धि होती है। जैन दर्शन में जड़ और चेतन पदार्थों के नियामक के रूप में ईश्वर या पुरुष की सत्ता नहीं मानी गई है। उसका मन्तव्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणों से ही प्राणियों के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतों से ही ज्ञान, सुख, दुःख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मों की सिद्धि नहीं कर सकते। जड़ भूतों के अतिरिक्त चेतन तत्त्व की सत्ता को मानना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। कभी भी मूर्त-जड़, अमूर्त-चैतन्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। जिसमें जिस गुण का पूर्ण रूप से अभाव है उस गुण को वह कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि इस प्रकार नहीं माना जाये तो

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कार्य-कारण भाव की व्यवस्था ही निरर्थक हो जायगी। फलस्वरूप हम भूतों को भी किसी कार्य का कारण मानने के लिए बाध्य नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में किसी कार्य के कारण की अन्वेषणा करना भी निरर्थक होगा। इसलिए जड़ और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वों की सत्ता मानते हुए कर्म-मूलक विश्व-व्यवस्था मानना तर्क संगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने आप फल प्रदान करने में समर्थ होता है।

कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा :

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने पर हमें सर्वप्रथम वेद-कालीन कर्म सम्बन्धी विचारों पर चिंतन करना होगा। उपलब्ध साहित्य में वेद सबसे प्राचीन हैं। वैदिक युग में महर्षियों को कर्म सम्बन्धी ज्ञान था या नहीं ? इस पर विज्ञों के दो मत हैं। कितने ही विज्ञों का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदों–संहिता ग्रन्थों में कर्मवाद का वर्णन नहीं आया है, तो कितने ही विद्वान् यह कहते हैं कि वेदों के रचयिता ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में कर्मवाद की चर्चा नहीं है उनका कहना है कि वैदिक काल के ऋषियों ने प्राणियों में रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होंने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तरात्मा में न कर बाह्य जगत् में की। किसी ने कमनीय कल्पना के गगन में विहरण करते हुए कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वों को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वैदिक युग का सम्पूर्ण तत्त्व चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि में ही विकसित हुआ। पहले विविध देवों की कल्पना की गई और उसके पश्चात् एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन में सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रुजन पराजित हों अतः देवों की प्रार्थनाएँ की गईं और सजीव व निर्जीव पदार्थों की आहूतियाँ प्रदान की गईं। यज्ञ कर्म का शनैः शनैः विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा संहिता काल से लेकर ब्राह्मण काल तक क्रमशः विकसित हुई।

आरण्यक व उपनिषद् युग में देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका संहिताकाल व ब्राह्मणकाल में अभाव था। उपनिषदों से पूर्व के वैदिक साहित्य में कर्म विषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषदकाल में अदृष्ट रूप कर्म का वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कर्म को विश्व-वैचित्र्य का कारण मानने में उपनिषदों का भी एकमत नहीं रहा है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रारम्भ में काल, स्वभाव,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नहीं।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों-संहिता ग्रंथों में कर्मवाद का वर्णन है, उनका कहना है कि वेदों में "कर्मवाद या कर्मगति" आदि शब्द भले ही न हों किन्तु उनमें कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद संहिता के निम्न मंत्र इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं—**शुभस्पतिः** (शुभकर्मों के रक्षक), **धियस्पतिः** (सत्कार्यों के रक्षक), **विचर्षणिः** तथा **विश्वचर्षणिः** (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा), "**विश्वस्य कर्मणो धर्ता**" (सभी कर्मों के आधार) आदि पद देवों के विशेषणों के रूप में व्यवहृत हुए हैं। कितने ही मंत्रों में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार संसार में जन्म लेता है और मरता है। वामदेव ने अपने अनेक पूर्वभवों का वर्णन किया है। पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों से ही लोग पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं— आदि उल्लेख वेदों के मंत्रों में हैं। पूर्वजन्म के पाप कृत्यों से मुक्त होने के लिए ही मानव देवों की अभ्यर्थना करता है। वेदमंत्रों में संचित और प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन है। साथ ही देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते हैं और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक जाते हैं। ऋग्वेद में पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरों में प्रविष्ट होता है, इसका वर्णन है। **"मा वो भुजेमान्यजातमेनो", "मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम"** आदि मंत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों को भी भोग सकता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मंत्रों में प्रार्थना की है। मुख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है, पर विशिष्ट शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है।

उपर्युक्त दोनों मतों का गहराई से अनुचिन्तन करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदों में कर्म सम्बन्धी मान्यताओं का पूर्ण रूप से अभाव तो नहीं है, पर देववाद और यज्ञवाद के प्रभुत्व से कर्मवाद का विश्लेषण एकदम गौण हो गया है। यह सत्य है कि कर्म क्या है, वे किस प्रकार बंधते हैं और किस प्रकार प्राणी उनसे मुक्त होते हैं आदि जिज्ञासाओं का समाधान वैदिक संहिताओं में नहीं है। वहाँ पर मुख्य रूप से, यज्ञकर्म को ही कर्म माना है और कदम-कदम पर देवों से सहायता के लिए याचना की है। जब यज्ञ और देव की अपेक्षा कर्मवाद का महत्त्व अधिक बढ़ने लगा, तब उसके समर्थकों ने उक्त दोनों वादों का कर्मवाद के साथ समन्वय करने का प्रयास किया और यज्ञ से ही समस्त फलों की प्राप्ति स्वीकार की। इस मन्तव्य का दार्शनिक रूप मीमांसा दर्शन है। यज्ञ विषयक विचारणा के साथ देव विषयक विचारणा का भी विकास हुआ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मणकाल में अनेक देवों के स्थान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई, उन्होंने भी कर्म के साथ प्रजापति का समन्वय कर कहा—प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल प्राप्ति अपने आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवों को अपने-अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। वह न्यायाधीश की तरह है। इस विचारधारा का दार्शनिक रूप न्याय, वैशेषिक, सेश्वरसांख्य और वेदान्त दर्शन में हुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानों को वैदिक परम्परा में कर्म कहा गया है, वे अस्थायी हैं, उसी समय समाप्त हो जाते हैं, अतः वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं ? इसलिए फल प्रदान करने वाले एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की, उसे मीमांसा दर्शन ने "**अपूर्व**" कहा। वैशेषिक दर्शन में "**अदृष्ट**" एक गुण माना गया है, जिसके धर्म-अधर्म रूप ये दो भेद हैं। न्यायदर्शन में धर्म और अधर्म को संस्कार कहा है। अच्छे बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। अदृष्ट आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। चूंकि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएँ। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार कहता है। श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में कर्मवाद का विकास हुआ है।

बौद्धदर्शन में कर्म :

बौद्ध और जैन ये दोनों कर्म-प्रधान श्रमण-संस्कृति की धाराएँ हैं। बौद्ध परम्परा ने भी कर्म की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि जीवों में जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मकृत है। लोभ (राग), द्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। रागद्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी, मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह संसार-चक्र निरन्तर चलता रहता है। जिस चक्र का न आदि है न अन्त है, किन्तु वह अनादि है।

एक बार राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है ? समाधान करते हुए आचार्य ने कहा—यह दिखलाया नहीं जा सकता कि कर्म कहाँ रहते हैं।

'विसुद्दिमग्ग' में कर्म को अरूपी कहा है। अभिधम्म कोष में उसे अविज्ञप्ति का रूप कहा है। यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है। सौत्रांतिक मत की दृष्टि से कर्म का समावेश अरूप में हैं, वे अविज्ञप्ति को नहीं मानते। बौद्धों ने कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन और काय की जो प्रवृत्ति है वह कर्म

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

कहलाती है पर वह विज्ञप्ति रूप है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तात्पर्य मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य संस्कार है। बौद्ध परिभाषा में इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार कर्म को वासना कहा है और वचन एवं कायजन्य संस्कार कर्म को अविज्ञप्ति कहा है।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से पुकारते हैं। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि—जितने भी कार्य हैं वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को न्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को माने बिना कार्य नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सभी सरिताओं का प्रवाह वासना-समुद्र में मिलकर एक हो जाता है।

शून्यवादी मत के मन्तव्य के अनुसार अनादि अविद्या का अपर नाम ही वासना है।

विलक्षण वर्णन :

जैन साहित्य में कर्मवाद के सम्बन्ध में पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है उसका किसी भी भारतीय परम्परा में दर्शन नहीं होता। जैन परम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है।

कर्म का अर्थ :

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि। जीवन व्यवहार में जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह कर्म कहलाता है। व्याकरण शास्त्र के कर्ता पाणिनी ने 'कर्म' की व्याख्या करते हुए कहा—जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है। वैशेषिक दर्शन में कर्म की परिभाषा इस प्रकार है—जो एक द्रव्य में समवाय से रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो, और जो संयोग या विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न करे। सांख्य दर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है। न्याय शास्त्र में उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त विद्वान् चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यों को कर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म रूप कहते हैं। बौद्ध दर्शन जीवों की विचित्रता के कारण को कर्म कहता है जो वासना रूप है। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। रागद्वेषात्मक परिणाम अर्थात्

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कषाय भावकर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्‌गल-जड़तत्त्व विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा-चेतन तत्त्व के साथ मिल जाता है द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन–विशेष प्राप्त पुद्‌गल भी कर्म है। कर्म जो पुद्‌गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व कर्म का संयोग है, तभी तक संसार है और इस संयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाती है।

विभिन्न परम्पराओं में कर्म :

जैन परम्परा में जिस अर्थ में 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उस या उससे मिलते-जुलते अर्थ में भारत के विभिन्न दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्त दर्शन में माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध दर्शन में वासना और अविज्ञप्ति शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सांख्यदर्शन में 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट, संस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है। भारतीय दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद में विश्वास नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं मानता इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नहीं मानता है, किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता मानते ही हैं।

न्याय दर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों से प्रेरणा संप्राप्त कर जीवों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म संस्कार कहलाते हैं।

वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुण माने गये हैं उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण संस्कार से पृथक् है और धर्म-अधर्म ये दो उसके भेद हैं। इस तरह न्याय-दर्शन में धर्म-अधर्म का समावेश संस्कार में किया गया है। उन्हीं धर्म-अधर्म को वैशेषिक दर्शन में अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषों से संस्कार होता है, संस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषों से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार-परम्परा बीजांकुरवत् अनादि है।

सांख्य योग दर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत क्लिष्टवृत्ति से धर्माधर्म रूपी संस्कार पैदा होता है। संस्कार को आशय, वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा जाता है। क्लेश और संस्कार को बीजांकुरवत् अनादि माना है।

मीमांसा दर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही यज्ञ आदि जितने भी अनुष्ठान किये जाते हैं उन सभी कर्मों का फल देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहाँ पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नहीं कहा है।

वेदान्त दर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्व-वैचित्र्य का कारण है। ईश्वर कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फल प्राप्ति कर्म से नहीं अपितु ईश्वर से होती है।

बौद्ध दर्शन का अभिमत है कि मनोजन्य संस्कार वासना है और वचन और कायजन्य संस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से ही प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और उससे पुनः लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है, इस तरह अनादि काल से यह संसार चक्र चल रहा है।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप :

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु नहीं हो सकता। कर्म आत्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का कारण है, गुणों का विघातक है, अतः वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मानव बंधता है, मदिरापान से पागल होता है और क्लोरोफार्म से बेभान। ये सभी पौद्गलिक वस्तुएँ हैं। ठीक इसी तरह कर्म के संयोग से आत्मा की भी ये दशाएँ होती हैं, अतः कर्म भी पौद्गलिक हैं। बेड़ी आदि का बन्धन बाहरी है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं एतदर्थ ही बेड़ी आदि की अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

जो पुद्गल-परमाणु कर्म रूप में परिणत होते हैं उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं और जो शरीर रूप में परिणत होते हैं उन्हें नोकर्म वर्गणा कहते हैं। लोक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है, अतः वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक है। मिट्टी आदि भौतिक हैं और उनसे निर्मित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होती है और शस्त्रादि के प्रहार से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जैसे पौद्गलिक हैं वैसे ही सुख-दुःख के प्रदाता कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की दृष्टि से जीव और पुद्गल दोनों भिन्न नहीं हैं किन्तु एकमेक हैं, पर लक्षण की दृष्टि से दोनों पृथक्-पृथक हैं। जीव अमूर्त व चेतना युक्त है जबकि पुद्गल मूर्त और अचेतन है।

इन्द्रियों के विषय-स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये मूर्त हैं और उनका उपभोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख-दुःख भी मूर्त है, अतः उनके कारणभूत कम भी मूर्त हैं।

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाशरूप हो जाता है।

गीता, उपनिषद् आदि में श्रेष्ठ और कनिष्ठ कार्यों के अर्थ में "कर्म" शब्द व्यवहृत हुआ है। वैसे जैन दर्शन में कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं रहा है। उसके मन्तव्यानुसार वह आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म का सम्बद्ध हो। जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को लक्ष्य में रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म कहा है और राग-द्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा है। इस तरह कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हुए— द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म के होने में भाव-कर्म और भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म कारण है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का सिलसिला भी अनादि है।

कर्म पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड़ और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चेतन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म हो या भावकर्म उसमें जड़ और चेतन नामक दोनों प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड़ और चेतन के मिश्रण हुए बिना कर्म की रचना नहीं हो सकती। द्रव्य और भावकर्म में पुद्गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता मुख्य है, किन्तु एक दूसरे के सद्भाव और असद्भाव का कारण मुख्य नहीं है। द्रव्यकर्म में पौद्गलिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व गौण होता है। भाव-कर्म में आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होती है और पौद्गलिक तत्त्व गौण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्गल परमाणुओं को शुद्ध पिण्ड मानें तो कर्म और पुद्गल में अन्तर ही क्या रहेगा ? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म में भेद क्या रहेगा ?

उत्तर में निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते समय संसारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध संसारी आत्मा से है, मुक्त आत्मा से नहीं है। संसारी आत्मा कर्मों से बंधा है, उसमें चैतन्य और जड़त्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है और उसमें विशुद्ध चैतन्य ही होता है। बद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं, नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि संसारी आत्मा भी जड़ और चेतन का मिश्रण है और कर्म में भी वही बात है, तब दोनों में अन्तर क्या है ? उत्तर है कि संसारी आत्मा का चेतन अंश जीव कहलाता है और जड़ अंश कर्म कहलाता है। वे चेतन और जड़ अंश इस प्रकार के नहीं हैं जिनका संसार-अवस्था में अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था में ही होता है। संसारी आत्मा सदैव कर्म युक्त ही होती है। जब वह कर्म से मुक्त हो जाती है तब वह संसारी आत्मा नहीं, मुक्त आत्मा कहलाती है। कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाता है तब वह कर्म नहीं शुद्ध पुद्गल कहलाता है। आत्मा से सम्बद्ध पुद्गल द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्म युक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्गल के तीन रूप होते हैं—(१) शुद्ध आत्मा—जो मुक्तावस्था में है, (२) शुद्ध पुद्गल, (३) आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण–जो संसारी आत्मा में है। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध आत्मा और पुद्गल की सम्मिश्रण अवस्था में है।

• □ •

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org